पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : एक-अध्ययन

पं. ब्र. माणिकचंद्रजी चवरे, कारंजा

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' आचार्य अमृतचंद्र का आचारविषयक अद्भुत ग्रंथ है। आचार्य श्री अमृतचंद्र विक्रम की १२ वीं सदी के दृष्टि-संपन्न विद्वान्, मर्मज्ञ भाषाप्रभु, अधिकार संपन्न सन्तश्रेष्ठ हैं। इनके:—१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २ तत्त्वार्थसार, ३ समयसार आत्मख्याति-टीका, ४ प्रवचनसार-तत्त्वदीपिका टीका, ५ पंचास्तिकाय-समयव्याख्या टीका ये पांच ग्रंथ मुद्रित रूपमें हमें उपलब्ध हैं। ये विद्वन्मान्य ग्रंथ हैं। आम्नाययुक्ति योग से सुसंपन्न हैं। इसके सिवा 'स्फुटमणिकोश' नामक उद्भट पच्चिसिकाओं का संग्रह वर्तमानही में उपलब्ध हुआ है। जिसका संपादन हो रहा है। इस प्रकार कुल छह ग्रंथों की अपूर्व संपत्ति दृष्टिगोचर होती है। निर्दोष तत्त्व-मूल यथार्थ कहना, युक्तिसहित कहना, संक्षेप में सूत्र रूपसे कहना, अधिकारसंपन्न अनुभव की भाषा में कहना ये आचार्य रचना के सातिशय विशेष हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आर्याच्छन्द के कुल २२६ श्लोक हैं। ग्रंथ छह प्रमुख विभागों में विभक्त है।

१ ग्रंथपीठिका (श्लोक १-१९) मंगल, तत्वमूल, कार्यकारण भाव इ.।

२ सम्यग्दर्शनाधिकार (श्लोक २०-३०) स्वरूप, आठ अंगों का निश्चय व्यवहार कथन।

३ सम्यग्ज्ञानाधिकार (श्लोक ३१-३६) सम्यद्दर्शन से अविनाभाव और कार्यकारण संबंध।

४ सम्यक्चारित्राधिकार (३७-१७४) बारह व्रतों की अहिंसा, पोषकता इ.।

५ सल्लेखनाधिकार (श्लोक १७५-१९६) जिसमें व्रतातिचारों का भी वर्णन सम्मिलित है।

६ सकलचारित्राधिकार (श्लोक १९७-२२६) जिसमें रत्नत्रय धर्म की निर्दोषता युक्तिपूर्वक सिद्ध है।

ग्रंथ के ऊपर आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी की हिंदी टीका है जो अपूर्ण थी और उसे कविवर्य पं. दौलतरामजी ने सं. १८२७ में पूर्ण की। इसका वर्तमान हिंदी अनुवाद पं. नाथूरामजी प्रेमी ने किया है। यदि इस ग्रंथ को उपासक श्रावकों की '**आचारसंहिता**' कही जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

पीठिका-बंधरूप प्रथम अधिकार में ग्रंथकार ने मंगलाचरण में केवल ज्ञान को परंज्योति कहा है, उसे ऐसे दर्पण की उपमा दी जिसमें संपूर्ण पदार्थमालिका यथार्थ प्रतिबिम्बित है। गुणी किसी विशिष्ट व्यक्ति के नामस्मरण के ऐवज में गुणमात्र का स्मरण सहेतुक है। परीक्षाप्रधान अभेदरूप कथनशैली का यह मंगलमय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रपात है। परमागम तत्त्व को कहता है। तत्त्व वस्तु का यथार्थ धर्म होता है। वस्तु स्वयं अनेकान्त रूप है इसलिए अनेकान्त परमागम का बीज सिद्ध है। नित्य–अनित्य, सत–असत्, एक–अनेक, भेद–अभेद ये परस्पर सापेक्ष अनेक धर्म (अन्त) स्वयं वस्तु के अंगभूत हैं। सूक्ष्मदृष्टि के अवलंबन करने पर इन धर्मों में सामंजस्य सहज ही प्रतीत होता है। इसकी भी आचार्य ने वन्दना की है। ग्रंथरचना की प्रतिज्ञा में लोकोत्तम पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ का अवतार विचक्षण विद्वानों के लिए है, इस स्पष्ट उल्लेख से ग्रंथ की लोकोत्तर श्रेणी स्वयं सुनिश्चित होती है।

किसी भी वस्तुतत्त्व का वर्णन मुख्यरूप से (स्वरूप प्रधान–निश्चय प्रधान) और उपचाररूप से (निमितप्रधान=व्यवहारप्रधान) होता है। अमूर्त चैतन्यघन पुरुष के (आत्मा के) यथार्थ ज्ञान के लिए उभय नयों का ज्ञान नितान्त आवश्यक होता है। **स्वाश्रितो निश्चयः**। शरीरादि से संयुक्त होनेपर भी आत्मा को विभक्त–एकत्व स्वरूप अर्थात् नोकर्म और भाव कर्मों से पृथक् और अपने गुणपर्यायों से तन्मय जानकर ही जीव स्वयं को शुद्ध अनुभव कर सकता है। इस शुद्ध स्वरूप को 'भूतार्थ', 'परमार्थ' कहते है और इसे जाननेवाले नय को निश्चय नय तथा कथन को अनुपचरित कथन कहते हैं। **पराश्रितो व्यवहारः**। शरीरादि परद्रव्यों के आश्रय से आत्मा को जानना जैसे यह आत्मा मनुष्य है, इत्यादि कथन उपचार कथन है। और ऐसा ज्ञान व्यवहारनय द्वारा होता है। इसका विषय अर्थात् अभूतार्थ है। निरपवाद वस्तुतत्व के परिज्ञान के लिए निम्न लिखित सूत्रों को हृदयंगम करने से आगामी आचार विषयक किसी प्रकार को विकल्प नहीं रहेगा। यह दृष्टि आचार की आधारशिला है सिद्धशिला तुल्य स्वयं सिद्ध है।

निश्चय भूतार्थ (वस्तुस्वरूप) और व्यवहार अभूतार्थ (अवस्तुस्वरूप) है।

व्यवहार और निश्चय को यथार्थ जाननेवाले ही विश्व में तीर्थ निर्माता होते है।

निश्चय श्रद्धासे विमुख व्यक्ति परद्रव्य में एकत्व प्रवृत्ति करता है। यही संसार है।

अज्ञानी को तत्त्व समझाने मात्र के लिए 'घी के घडे' की तरह व्यवहार कथन मात्र उपचार प्रयोग होता है।

उपदेश के यथार्थ फल के इच्छुकों को निश्चय और व्यवहार दोनों को यथार्थ जान कर मध्यस्थ होना अनिवार्य है।

परमार्थ से पराङ्मुख व्रत–तप बालव्रत बालतप है वे निर्वाण के कारण नहीं। उनमें समीचीन दृष्टि नहीं है और रागद्वेष की सत्ता भी है।

चारित्र, शुद्धिस्वरूप है उसे पुण्यबंध का कारण मानना अज्ञानता है। बंध के कारण मिथ्याध्यवसाय-रागद्वेष होते है, न कि शुद्धि और वीतरागता।

आत्मा के श्रद्धानज्ञान–स्थिरतारूप मोक्षमार्ग को न पहिचानकर केवल व्यवहाररूप दर्शन ज्ञान चारित्र की साधना को मोक्षमार्ग माननेवाले—शुभोपयोग में सन्तुष्ट होते है शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग में प्रमादी होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only- www.jainelibrary.org

है। आर्या ९ से १५ में पुरुष–पुरुषार्थ–पुरुषार्थसिद्धि और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का स्वरूप क्रमशः स्पष्ट हुआ है। हमारा विवेकी जिज्ञासुओं को अनुरोधविशेष है कि वे इन प्रारंभिक १९ मूल श्लोकों का और पंडितजी के हिंदी अनुवाद का अक्षरशः मनन अवश्य करें। वह स्वयंपूर्ण है। चारित्र संबंधी संपूर्ण विकल्पों का सहजही परिहार हो जावेगा। चारित्र को किस दृष्टि से आंकना इसका परिज्ञान भी हो जावेगा।

'पुरुष' शब्द का अर्थ 'चिदात्मा' है वह स्पर्शादि से रहित है। अपने ज्ञानादि गुण पर्यायों से तन्मय है। द्रव्य का दूसरा लक्षण जो उत्पादव्यय ध्रौव्य का होना उससे वह समाहित है। चिदात्मा का चेतना लक्षण निर्दोष है। वह ज्ञान चेतना व दर्शन चेतनारूप से दो प्रकार की होकर भी परिणमन अपेक्षा से तीन प्रकार है। **ज्ञान चेतना**–शुद्ध ज्ञान स्वरूप परिणमन करती है। **कर्म चेतना**–रागादिरूप परिणमन करती है। **कर्मफल चेतना**–सुखदुःखादि भोगनेरूप परिणमन करती है। पुरुष का 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजन सुख है फिर भी अनादिकाल से ज्ञानादि गुणों के सविकार–परिणमनरूप परिणमता हुआ यह जीव सविकार परिणामों का हि कर्ता–भोक्ता रहा है और का नहीं यह विपरीत पुरुषार्थ रहा। विकारों से रहित अचल ज्ञायकरूप चैतन्यरूपता को प्राप्त होना कृतकृत्यता है यही पुरुषार्थ–सिद्धि है।

उपाय के परिज्ञान के लिए जीवस्वरूप–कर्मस्वरूप–परस्पर निमित्त नैमित्तिक संम्बध, स्वभाव–विभाव इत्यादि विषयक श्लोक १२, १३, १४, १५ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साथही साथ समयसार कलश—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत् कर्म।
या परिणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥

इसको साथ में रखकर कार्यकारण भाव और निमित्त नैमित्तिक भावसंबंधी संपूर्ण विकल्प जाल गल सकता है।

पुद्गलों का कर्मरूपसे स्वयं परिणमन होता है। जीव के शुभाशुभ परिणाम केवल निमित्त मात्र होते हैं। इसही प्रकार जीव अपने–चिदात्मक भावरूप से परिणमता है, पुद्गल कर्म केवल निमित्त मात्र होता है, यह है वस्तुस्थिति। कर्म–निमित्तक भावों में तन्मयता का अनुभवन करना अज्ञान है और संसार का बीज है।

रागादिभाव सचेतन है इसलिए इनका कर्ता जीव होते हुए भी स्वयं ग्रन्थकार उन्हें 'कर्मकृत' कहकर 'असमाहित' भी कह रहे है। आशय स्पष्ट है कि वे शुद्ध जीव स्वभावरूप नहीं है कर्म के निमित्त होते हुए होते है। अतएव 'कर्मकृत' कहे गये हैं। इनमें आत्मस्वरूप की कल्पना करना और उपादेयता की धारणा बनाना यह कोरा अज्ञान है। इस विपरीत मिथ्या अभिप्राय को जडमूल से दूर करना यह सम्यग्दर्शन है। कर्म निमित्तक भावों से भिन्न, अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को यथावत् जानना–अनुभवना यह सम्यग्ज्ञान है। और कर्मनिमित्तक भावों से उदासीन होकर निजस्वरूप में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। रत्नत्रय स्वरूप तिनों का समुदाय यथार्थ में पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय स्वयं सिद्ध होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार निर्लेप नग्नत्व (दिगम्बरत्व) मौन भाव से मुक्तिमार्ग को बतलाता है इसलिए हम उसे मंगल–लोकोत्तम और शरण के रूप में विना किसी विकल्प के स्वीकार कर लेते हैं; उसी प्रकार शुद्ध पुरुष का शुद्ध परिणाम रूप कार्य उसको अनुपचरित रूपसे कहनेवाला निश्चयनय—उसकी भूतार्थता व्यवहार की निमिताधीनता उसकी अभूतार्थता आदि को अभ्रांतरूप में स्पष्ट स्पष्ट नग्न सत्य कहनेवाले श्लोकों का महत्त्वपूर्ण आशय मंगल है, लोकोत्तम है और शरण भी है उसे यथार्थरूपसे स्वीकार कर लेनेपरहि ग्रन्थान्तर्गत सारा वर्णन सजग सचेतन हो जाता है। रत्नत्रयात्मक मार्ग के पथिक मुनीश्वरों का आचार एकान्तविरतिरूप 'औत्सर्गिक' होता है; और पदानुसारी उपासकों की वृत्ति एकदेश विरतिरूप होते हुए भी आत्माभिमुख दृष्टि होने से तथा रत्नत्रय के बीज उसमें विहित होने से श्रावकाचार मोक्षमार्ग को बतलानेवाला होता है इसीलिए वह कथनीय है। इस सत् आशय को लेकर ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण पीठिका समाप्त होती है।

श्रावकधर्म व्याख्यान (श्लोक २०-३०)

मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है। यथाशक्ति आराधना उपादेय है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन अनिवार्य है उसके होनेपर हे ज्ञान और चारित्र यथार्थ होंते हैं। जीवाजीवादि तत्त्वार्थों का निरंतर श्रद्धान करना चाहिये। यह श्रद्धान विपरीत श्रद्धान विरहित आत्मस्वरूप हि है। पृथग्मूल वस्तु नहीं है यद्यपि सम्यग्दर्शन के आठ अंग वे ही कहे जो रत्नकरणादि ग्रंथों में वर्णित हैं फिर भी उनका लक्षण विशिष्ट दृष्टिसहित है, (निश्चय और व्यवहाररूप) निरूपित है।

१ **निःशंकितः**—सर्वज्ञकथित वस्तु समूह अनेकान्तात्मक है क्या वह सत्य है या असत्य ऐसे विकल्पों का न होना।

२ **निष्कांक्षितः**—इह परलोक में बडप्पन की और पर समय की (एकान्त तत्त्व की) अभिलाषा न करना।

३ **निर्विचिकित्साः**—अनिष्ट क्षुधा तृषा आदि भावों में तथा मलमूत्रादि के संपर्क होने पर ग्लानि नहीं करना।

४ **अमूढ दृष्टिः**—तत्त्वरुचि रखना। लोक व्यवहार में मिथ्याशास्त्रों में, मिथ्यातत्त्वों में–मिथ्या देवताओं में अयथार्थ (मिथ्या) श्रद्धा नहीं करना।

५ **उपगूहन** (उपबृंहण):—मार्दवादि भावों से आत्म गुणों का विकास करना और अन्योंके दोषोंका आविष्कार नहीं करना।

६ **स्थितिकरण** :—कामक्रोधादि के कारण न्याय मार्ग से विचलित होने पर युक्तिपूर्वक स्वयं को और पर को स्थिर करना।

७ **वात्सल्यः**—मोक्ष कारण अहिंसा में और साधर्मी बंधुओं में वात्सल्य भाव रखना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८ **प्रभावना**:— रत्नत्रय प्रकाश द्वारा स्वात्मा को प्रभावित करना और दानादि द्वारा अन्यों को प्रभावित करना।

सम्यग्ज्ञानाधिकार (श्लोक ३१-३६)

दर्शन (श्रद्धा) गुण की सम्यग्दर्शनरूप पर्याय होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप होता है। इन दोनों गुणों का पर्यायान्तर एक एक समय में होता है फिर भी दीप प्रकाशकी तरह सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य हो जाता है। दोनोंमें लक्षण भेद है, पृथगाराधन इष्ट ही है, कोई बाधक नहीं। सम्यग्ज्ञान की आराधना करते समय आम्नाय-शास्त्र परंपरा, युक्ति और अनुयोगों की निर्दोषता को दृष्टि में लेना आवश्यक होता है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण—सत् और अनेकान्त तत्त्वों में वह संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से पूर्णतया रहित आत्मस्वरूप ही है (श्लोक ३५)। सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं (श्लोक ३६)। उनका स्वरूप मननीय है। यद्यपि स्वतंत्र श्लोकों में इसका वर्णन नहीं है फिर भी टीका में जो आया उसका संक्षेप इस प्रकार है।

१. **व्यंजनाचार**—भावश्रुत का कलेवर जो द्रव्यश्रुत (शास्त्र-सूत्र-गाथा आदि) के उच्चारण या लेखन की निर्दोषता रखना।

२. **अर्थाचार**—शब्द-पद आदि का यथास्थान समीचीन अर्थ ग्रहण करना।

३. **उभयाचार**—दोनों की (शब्द और अर्थ की) सावधानता रखना।

४. **कालाचार**—शास्त्रोक्त समय में (संधिकाल छोडकर) अध्ययनादि करना।

५. **विनयाचार**—अध्ययनादि के समय निरहंकार भावपूर्वक नम्रता का होना।

६. **उपधानाचार**— अधीत विषय धारणा सहित स्थायी रखना।

७. **बहुमानाचार**- ज्ञान, शास्त्र आदि सम्बन्धी तथा गुरु सम्बन्धी आदरभाव रखना।

८. **अनिह्नवाचार**—ज्ञान-शास्त्र-गुरु आदि का अपलाप नहीं करना।

सम्यक्चारित्राधिकार

दर्शन मोह का अभाव और सम्यग्ज्ञान का लाभ होने पर स्थिर चित्तता पूर्व सम्यक्चारित्र का आलंबन उपादेय है यही क्रम है। वह निरपेक्ष रूप होता है।

हिंसा अहिंसा के विचार-विवेक (कुछ सूत्र वाक्य सूक्तियाँ)

संपूर्ण सावद्य योग का परिहार चारित्र है वह विशद अर्थात निर्मल वैराग्यपूर्ण एवं आत्मस्वरूप है (श्लोक-३९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपूर्ण रूप से संपूर्ण पापों से अलिप्तता होने से यति स्वयं समयसाररूप होता है और गृहस्थ एकदेशविरत और उपासक के रूप होता है।

आत्मपरिणाम के घातक होने से असत्य भाषणादि जितने भी पाप हैं वे केवल शिष्यों को हिंसा का स्वरूप स्पष्ट हो इसी हेतु से बतलाए हैं।

कषाय प्रवृत्तिपूर्वक प्राणों का घात होना द्रव्य हिंसा है। रागादि विकारों की उत्पत्ति भाव हिंसा है और उत्पत्ति न होना अहिंसा है। (श्लोक ४४)

यदि रागादिकों का आवेश वहीं है और आचरण सावधान है फिर भी यदि योगायोग से प्राण व्यपरोपण होता है तो वह हिंसा नहीं है। (श्लोक ४५)

प्रत्युत जीव घात हो या न हो यदि रागादि है तो वहां हिंसा अवश्य है। (श्लोक ४६)

कषाय वश जीवात्मा अवश्यहि आत्मघाती है। अतएव प्रमत्त योग ही हिंसा है। (श्लोक ४७-४८)

अतिसूक्ष्म हिंसा का भी आधार परवस्तु नहीं है फिर भी हिंसा के आयतों का त्याग परिणाम विशुद्धि के लिए उपादेय है, इस प्रकार द्रव्यभावों का सुमेल है। इस संधि के दृष्टिपथ में न लेनेवाला बहिरात्मा है, क्रिया में आलसी और चारित्र परिणामों का घाती है। इन विवेक सूत्रों के आशय को समझनेवालों को ही निम्नलिखित विकल्पों से निवृत्ति सहज ही होती है।

१. हिंसा न करते हुए भी एक व्यक्ति हिंसा फल का भोक्ता होता है और दूसरे किसी एक के द्वारा हिंसा होते हुए भी वह हिंसा का फलभागी नहीं होता है। (श्लोक ५१)

२. किसी एक को थोडी हिंसा महान् फलदायी होती है, दूसरे किसी एक को द्वारा घटित महा-हिंसा भी अल्प फलदायी होती है। (श्लोक ५२)

३. सहयोगियों के द्वारा एक समय में की गयी हिंसा जहा एक को मंद फल देती है वहां वही हिंसा दूसरों को तीव्र फल देती है। (श्लोक ५३)

४. परिणामों के कारण कभी हिंसा का फल पहले प्राप्त होता है कभी हिंसा के क्षण में ही, कभी बाद में और कभी हिंसा पूरी होने के पहले ही फल प्राप्त होता है। (श्लोक ५४)

५. कभी हिंसा करनेवाला एक होता है और फल भोक्ता अनेक होते हैं। प्रत्युत हिंसा करनेवाले अनेक और फल भोक्ता एक होता है। (श्लोक ५५)

६. किसी एक को हिंसा फलकाल में एकमात्र हिंसा पाप को फलदायी होती है और दुसरे को वही हिंसा अहिंसा का अधिक मात्रा में फल देती है। (श्लोक ५६)

७. किसी एक की प्रवृत्ति बाह्य में जो अहिंसा (प्रतीत) होती है वह अन्त में हिंसा के फल स्वरूप सिद्ध होती है और किसी जीव की हिंसा भी अन्ततोगत्वा अहिंसा के फलस्वरूप से फलती है। (श्लोक ५७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश—१. हिंस्य = (जिसकी हिंसा की जाती है) द्रव्यभावरूप प्राण । २. हिंसक = (कषायी घातक जीव) ३. हिंसा = (प्राणों का घात) ४. हिंसा फल = (पापों का संचय) इन चार अवयवों का वास्तविकरूप से विचार करके ही हिंसा का वास्तविक त्याग हो सकता है ।

इस प्रकार सामान्यरूप से हिंसा अहिंसा का वर्णन करने के अवांतर विशेषरूप से मद्यादिकों के त्याग का विधान करते समय किया गया कार्यकारण भावों का वर्णन भी सातिशय मूलग्राही हुआ है । जैसे—

मद्यत्याग विधान—मदिरा चित्त को मोहित करती है । मोहितचित्त व्यक्ति को वस्तु धर्म का विस्मरण होता है । और धर्म को विस्मृत करनेवाला जीव निःशंक रूपसे हिंसाचरण करता है । मद्य रसज जीवों की योनिभूत है, मद्यपान में उनकी हिंसा होना अनिवार्य है । साथ ही अभिमान–भय–कामक्रोध आदि विकारों की उत्पत्ति मद्यपान से अविनाभावी है जो विकार स्वयं हिंसारूप है । इसी प्रकार मांस भक्षणादि का वर्णन मननीय ही है और मधु भक्षण में भी भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा अवश्यंभावी है । यह शास्त्रों में पापों के नव प्रकार से (मन-वचन-काय–कृत–कारित–अनुमोदना से) होनेवाले त्यागको **औत्सर्गिक त्याग** (सर्व देश त्याग–जो मुनियों को होता है) और श्रावक को प्रतिमादिकों में होनेवाले त्याग को **आपवादिक त्याग** कहा है । श्राबक अवस्था में यद्यपि स्थावर हिंसासे अलिप्त रहना अशक्य प्राय है तथापि संकल्पपूर्वक त्रस हिंसाका तो त्याग उसे होना ही चाहिये साथ में व्यर्थ स्थावर हिंसा के त्यागसे भी स्वयं को सावधान एवं अलिप्त रखना आवश्यक ही होता है ।

संसार में अज्ञान और कषायों की बहुतायतता होने से व्यवहार में ही नहीं परंतु अन्यान्य जैनेतर शास्त्रों में भी अज्ञानवश हिंसा का विधान आया है, आश्चर्य यह है की उसे धर्म बतलाया है । वह सामान्य लोगों को चक्कर में डालता है; जिसके कुछ उदाहरण दृष्टांत रूप में (श्लोक ७९ से श्लोक ९० तक) आये हैं । जो मुमुक्षुओं को मार्गदर्शन के लिए पर्याप्त है उन्हें उपलक्षण के रूपमें ही समझना चाहिए । और संकल्पी हिंसा से स्वयं को बचाना चाहिए । जैसे—

१. धर्म के लिए हिंसा करना दोषास्पद नहीं है ।

२. देवताओं को बली चढाना चाहिए क्योंकि धर्म देवताओं से ही उत्पन्न होता है ।

३. पूज्य व्यक्ति गुरु आदिकों के निमित्त प्राणिघात में दोष नहीं है ।

४. बहुत से छोटे छोटे जीवों को मारने के ऐवज में किसी एक बडे का घात करना अच्छा है ।

५. किसी एक घातजीव की हत्या करने से बहुत से प्राणियों की रक्षा होती अतः हिंसक प्राणि का घात करना चाहिए ।

६. यदि ये हिंस्र–सिंहादि जीवित रहेंगे तो इनसे हिंसा होगी और उन्हें बहुत पाप निर्माण होगा अतः दया भावसे इनको ही मारना अच्छा है ।

७. दुःखी दुःख से विमुक्त होंगे अतः दुःखीयों को मारना अच्छा है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. सुखीयों को सुखभोग करते समय ही मारना चाहिए क्यों की सुखमग्न अवस्था में मारने से आगामी भवमें वे सुखी ही होंगे।

९. धर्म की इच्छा करनेवाले शिष्य ने धर्म प्राप्ति के हेतु अपने गुरुदेव की हत्या करना चाहिए।

१०. धनलोलुपी गुरु के चक्कर में आकर खारपटिकों की मान्यता के अनुसार मृत्यु को स्वीकार कर धर्म मानना।

११. समागत अतिथि के लिए बहुमान की भावना से अपना निजी मांस का दान करना।

ये ऐसे विकल्प हैं जो सामान्य सारासार विचार से भी परे हैं। परंतु कम ज्यादा मात्रा में इस प्रकार के अन्यान्य विकल्पों का भूत आज भी पढे हुए और अनपढ दोनों के सिरपर सवार है। ऐसे विकल्पों के चक्कर में नहीं पडना चाहिए। इसलिए आचार्य श्री ने जगह जगह पर जो संकेत किए हैं वे निस्संशय डूबती हुई जीवन नौका के लिए दीपस्तंभ के समान है।

जैसे अभेद दृष्टि में विशुद्धता चारित्र है, उसी प्रकार विशुद्धता का अभाव पाप है। वही पाप असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि अनेकरूप दिखाई देता जो अभेद दृष्टि में 'हिंसा' ही होता है इस आशय को जगह जगह बतलाया गया है। भेद–अभेद वर्णन परस्पर सम्मुख होकर हुआ है।

हिंसा वर्णन सापेक्ष विस्तृत इसीलिए किया गया है जिससे पापों की आत्मा सुस्पष्ट हो हिंसा पाप का केन्द्र है। असत्यादि हिंसा के पर्याय है यह भी स्पष्ट हो जाय।

असत्य के चार भेद—(१) सत् को अर्थात विद्यमान् को असत् कहना जैसे देवदत्त होनेपर भी यहाँपर नहीं है कहना (२) अविद्यमान वस्तु को भिन्न रूप से कहना जैसे यहां घट है (न होने पर भी) (३) अपने स्वरूप से विद्यमान वस्तु को 'वह है' इस रूप से कहना जैसे गाय को 'घोडा' कहना (४) **गर्हित**—सावद्य और अप्रिय भाषा प्रयोग भी असत्य है। जहां जहां प्रमत्त योग है उन सब भाषा प्रयोगों में असत्य ही समझना चाहिए। समीचीन व्यवहार में भी सफलता के लिए जिन भाषा–प्रयोगों का त्याग आवश्यक होता है उनका विधान श्लोक ९६-९७-९८ में अवश्य ही देखना चाहिए। श्रावक अवस्था में (भोगोपभोग के लिए साधन स्वरूप पाप को छोडने में अशक्य होता है ऐसी अवस्था में यावत् शक्य असत्य का भी सदा के लिए त्याग होना चाहिए यह विधान मार्ग दर्शक है।

चोरी के त्याग कथन में भी प्रमत्तयोग विशेषण अनुस्यूत है, अर्थ (धन) पुरुषों का बहिश्चर प्राण होने से परद्रव्य–हरण में प्राणों की हत्या समझना चाहिए। जहां चोरी वहां हिंसा अविभावरूप से होती है। परंतु बुद्धिपूर्वक प्रमत्तयोग का अभाव होने से कर्म–ग्रहण चोरी नहीं कही जाती आदि अंशों का वर्णन संक्षेप में आया है।

अब्रह्म स्वरूप वर्णन में द्रव्यहिंसा–भावहिंसा–कुशीलत्याग के क्रम का विधान चार श्लोकों में है। रागादि उत्पत्ति के आधीनता से कुशील में हिंसा अवश्यंभावी है यह भी बतलाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह प्रमाण व्रत का वर्णन (श्लोक १११ से १२८) तक आया है। यहाँ पर भी सूत्र रूप से महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोनों का अंकण है।

परिग्रह का लक्षण जो मूर्च्छा कहा वह मोहोदय निमित्तक ममत्व–परिणामरूप है। परिग्रहता की व्याप्ति मूर्च्छा के साथ है। बाह्य परिग्रह न होते हुए भी मूर्च्छाधीन परिग्रही है। ऐसा होने पर भी बाह्य वस्तू को मूर्च्छा की निमित्तता है ही। अकषायी जीवों को कर्म ग्रहण में मूर्च्छा संभव नहीं है। अभ्यंतर विभावरूप मिथ्यात्व वेदत्रय, हास्यादि छह विभाव और क्रोधादि चार कषाय इन चौदह को अंतरंग परिग्रह कहना जैन तत्त्वज्ञान की अपनी विशेषता है। बाह्य सचित्त और अचित्त पदार्थ मूर्च्छा के आधार या आयतन होने से उन्हें परिग्रह कहा है। मूर्च्छा–भाव हिंसा का ही पर्याय है। मूर्च्छा–परिणाम की अधिकता होने से ही हिरण के बच्चे की अपेक्षा चूहे खानेवाली बिल्ली निस्संशय अधिकतर हिंसक है। अंतरंग परिग्रह त्याग के क्रम का उल्लेख करते हुए अनंतानुबंधी कषाय चतुष्टयों को ये सम्यग्दर्शन रत्न के चुरानेवाले चोर हैं यह कहकर मिथ्यात्व के साथ उनका परित्याग पहले होने की आवश्यकता बतलायी। असंयम और परिग्रह का निकट संबंध है। अशेष परिग्रह त्याज्य ही है। यदि वह औत्सर्गिक अवस्था बन नहीं पाती तो शक्ति के अनुसार उसे कम करना चाहिए कारण विशेष यह है कि तत्त्व याने आत्मतत्त्व का स्वरूप स्वयं परद्रव्य से सर्वतंत्र स्वतंत्र और निवृत्तिरूप है।

रात्रि–भोजन परित्याग को कहीं कहीं पर छट्टा अणुव्रत भी कहा है अतः उसका वर्णन क्रमप्राप्त ही है। रागभाव (आसक्ति की) की अधिरता रात्रि भोजन में भी निमित्त है। स्थूल सूक्ष्म जीवों की हिंसा रात्रिभोजन में सुतरां अवश्य होने से द्रव्यहिंसा भी सुनिहित है। नियमपूर्वक रात्रिभोजन–परिहार जैनीयों की कुलक्रमागत आचार विशेषता सेंकडो वर्षों से रही। वर्तमान की शिथिलता शोचनीय आचार पतन को सूचित करती है। जीवनी के लिए जीवन दृष्टि की कितनी आवश्यकता है इसको भी सूचित करती है।

सप्तशीलों के संदर्भ में प्रत्येक व्रतों का वर्णन करते समय अहिंसा का परिपोष कैसे संभव है इसको यथास्थान दिग्दर्शित किया है।

दिग्व्रत और देशव्रत में मर्यादा के बाहिर पापत्याग होने से महाव्रतित्व का आरोप व्रत के आत्माको स्पष्ट करता है। अनर्थ दण्ड के पांच ही भेदों का स्वरूप संक्षिप्त होते हुए भी मूल में देखने लायक है।

शिक्षाव्रतों में सामायिक का अपना विशेष स्थान है। इष्टानिष्ट बुद्धि के परिहार को '**साम्य**' कहते हुए सामायिक को आत्मतत्व प्राप्ति का मूल कारण बतलाया है। दिनान्त और निशान्त में तथा अन्य समय में भी वह करणीय है। कुछ समय मात्र के लिए क्यों न हो पाप मात्र का त्याग होने से उपरिचरित महाव्रतित्व का उल्लेख व्रत की गुरुता बतलाता है। प्रोषधोपवास में उसी साम्य भाव के संस्कारों का दृढीकरण होता है साथ में नव भंगोंसे अहिंसाव्रत का सोलह प्रहर तक के लिए विशेष परिपोष बतलाया है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के लिए वस्तु तत्त्वका और अपनी शक्ति का परिज्ञान आवश्यक है। अनन्त कायिक वस्तु का परित्याग व्रतीयों को आवश्यक है। नवनीत जीवोत्पत्ति का योनीभूत होने से त्याज्य है। काल और वस्तु की मर्यादा से संतोष और संतोष से हिंसा त्याग स्वयं सधता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिथिसंविभाग में—स्वपरानुग्रह है, लोभ परिहार स्वानुग्रह है और हिंसा परिहार भी है। ज्ञानादिक सिद्धि में निमित्त होने से परानुग्रहता भी है। विधि–द्रव्य–दाता–पात्र विशेष का परिज्ञान जागृत विवेक से ही संभव है। नवधा भक्ति विधि विशेष है। फलानुपेक्षा, क्षमा, ऋजुता, प्रमोद होना, असूया का और विषद, अहंकार का अभाव होना ये सात गुण होना दाता की विशेषता है। रागादिकों की उत्पत्ति-कारकता नहीं होना द्रव्यकी विशेषता है। मुक्ति कारण गुणों की अभिव्यक्ति होने से अविरत सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक और मुनि जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्र विशेष है।

सल्लेखना—को कहीं कहीं १३ वा व्रत या व्रत मंदिर के कलश कहते है। प्रयत्न पूर्वक की गयी धर्म साधना धर्म धन है उसे साथ में ले जाने की प्रक्रिया सल्लेखना है। कषायों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यायों का उत्तरोत्तर अभाव होता जाय इसलिए सल्लेखना में इच्छा का अभाव होता ही है। स्थूल दृष्टियों ने मात्र देह दण्ड की प्रक्रिया को देखा और उसे आत्महत्या कहा यह तत्त्व विटंबना है। जो विचार विवेक-शून्यता को बतलाया है। सल्लेखना मूर्तिमान अहिंसारूप है और आत्महत्या कोरी हिंसा है।

अतिचारों का वर्णन १६ श्लोकों में (१८१ से १९६) आया है। अतिचार केवल उपलक्षण रूप होते हैं इस प्रकार संभवनीय दोषों से व्रतों को बचाना चाहिए।

मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन १४ श्लोक में (१९७ से २१०) संगृहित है। अनशन, अवमोदर्य, वृतिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये बाह्य तप है। विनय वैय्यावृत्य, प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग स्वाध्याय ध्यान ये आभ्यंतर तप है। समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग इन छह को आवश्यक कहते हैं। तीन गुप्ति, पांच समितियों के पीछे 'सम्यक्' विशेषण वैशिष्ट्यपूर्ण है। दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजयों का वर्णन टीका और भाष्यों में जानने योग्य है।

साधक अवस्था में अंतर्मुख दृष्टि पूर्वक रत्नत्रय की भावना होती है। विशुद्धता और राग का या विचार और विकारों का नित्यप्रति द्वंद्व होता है ऐसी अवस्था में बंध जो भी होता है वह रागभाव से होता है वह रत्नत्रय का विपक्षी है। रत्नत्रय हर हिस्से में मोक्ष का ही उपायभूत है। योग और कषाय बंधन के कारण है रत्नत्रय न योगरूप है न कषायरूप, वह तो शुद्धस्वभावरूप ही है। शुद्ध आत्म निश्चिति सम्यग्दर्शन है, शुद्ध आत्मस्वरूपज्ञान सम्यग्ज्ञान है और शुद्ध आत्मा में स्थिरता ही चारित्र है इनसे बंध कैसे संभाव्य है ? वह निर्वाण का–परमात्मपद का ही कारण है।

सम्यक्त्व की और विशिष्ट विशुद्धतारूप चारित्र की सत्ता में तीर्थंकर नामकर्म, आहारक शरीर नाम-कर्म तथा उपरिम ग्रैवेयकादि संबंधी देवायु का बंध वर्णन शास्त्रों में जो आया है वह विशुद्धता के साथ संलग्न योग और कषाय मूलक ही है। कषायों की विलक्षण मंदता को शुभोपयोग कहते हैं। वह पुण्यास्रव में हेतुभूत होता है आचार्यों की तत्त्व दृष्टि उसे (शुभोपयोगी) अपराध कहती है।

श्लोक २११ से २२२ इन १२ गाथाओं में आया हुआ सूक्ष्म तत्त्वविवेचन स्वयं स्वतंत्र ग्रंथ की योग्यता रखता है। दवाई की बोतल को लगी हुई प्रामाणिक कंपनी की प्रामाणिक मुहर की तरह आचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संहिता को इस अमृत कुंभ को लगी हुई पूर्ण प्रामाणिकता की दिग्दर्शक जैन तत्त्व नीति की यह लोकविलक्षण मुद्रा है। विवेक से अमृतस्वरूप आचारसार का रसास्वाद यह अंतरात्मा का परम पुरुषार्थ है। इसीके द्वार से परमात्मपद की प्राप्ति है। जो नित्य निरूपलेप, स्वरूप में समवस्थित, उपघातविरहित, विशदतम, परमदरूप, कृतकृत्यकरूप, विश्वज्ञानरूप, परमानंदरूप शाश्वत अनुभूति स्वरूप है।

आचार्य अमृतचंद्र का तत्त्वविवेचन जैसे लोकविलक्षण अद्भुत युक्तियों से भरपूर हुआ है उसी तरह उनकी ग्रन्थ की प्रशस्ति भी अदृष्टपूर्व उठी हुई आत्मा की उच्चता की द्योतक है "नाना वर्णों से बने शब्दों से पदों की रचना हुई। पदों नें वाक्यों को बनाया। वाक्यों ने ही इस परमपवित्रतम शास्त्र को बनाया है इसमें हमारा कुछ नहीं है।"

गौरवशाली आचार्य अमृतचंद्र जैसों का आत्मा ही यह कह सकता है। शतशः प्रणाम हो ऐसे अन्तरात्मा को।

[पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—श्रीमद् रायचंद जैन शास्त्र माला—(सरल हिंदी भाषा टीकासहित) परमश्रुत प्रभावक मंडळ मु. अगास, पो. बोरीया व्हाया आनंद, गुजराथ मूल्य ३-२५] मूल हिंदी टीकाकार श्री पं. टोडरमलजी और श्री पं. दौलतरामजी (वर्तमान हिंदी संस्करण श्री पं. नाथूरामजी प्रेमी)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org